दैनिक भास्कर

Date: 08-09-18

भारत-अमेरिका रक्षा संबंधी संचार समझौते का मतलब

आज के युग में जमीन-जायदाद और हथियार से भी ज्यादा मूल्यवान चीज है डेटा

संपादकीय

भारत और अमेरिका ने गुरुवार को कामकासा (कम्युनिकेशन्स कंपैटिबिलिटी एंड सिक्योरिटी एग्रीमेंट) पर दस्तखत करते हुए दोनों देशों के बीच सहयोग के नए द्वार खोल दिए हैं। आज के युग में जमीन-जायदाद और हथियार से भी ज्यादा मूल्यवान चीज है डेटा। यह समझौता तमाम तरह के डेटा की भागीदारी के लिए भारत को अमेरिकी प्लेटफॉर्म का इस्तेमाल करने की इजाजत देगा। इसके साथ ही भारत उन डेटा का भी इस्तेमाल कर सकेगा, जिन्हें दूसरे देशों की सेनाएं अमेरिका से साझा करती हैं।

अमेरिकी विदेश मंत्री माइक आर. पोम्पिओ और रक्षा मंत्री जेम्स एन. मैटिस के साथ भारतीय विदेश मंत्री सुषमा स्वराज और रक्षा मंत्री निर्मला सीतारमन ने उस पर दस्तखत किए और न सिर्फ सरकारी स्तर पर डेटा की हिस्सेदारी के द्वार खोले बल्कि निजी स्तर पर भी रक्षा में काम करने वाली कंपनियों के लिए भी यह संभावना तैयार की। समझौते का उद् देश्य दुनिया भर में फैले अमेरिकी रक्षा नेटवर्क के साथ भारत का सहयोग और आतंकवादी गतिविधियों पर निगरानी रखना भी है। भारत ने रक्षा मामलों में निजी कंपनियों को निर्माण का मौका हाल में दिया है और इस समझौते से उस नीति को मजबूती मिलेगी।

अब भारत की निजी कंपनियां अमेरिका की सैन्य आपूर्ति शृंखला में शामिल हो सकेंगी। भारत इस बात से खुश है कि अमेरिका पाकिस्तान में पैदा हो रहे आतंकवाद पर अंकुश लगाने के लिए सक्रिय है और इसीलिए उसने दक्षिण एशिया में ट्रम्प की नीति का समर्थन किया है। हालांकि, इस समर्थन से अलग भारत को ईरान पर लगी पाबंदी का पालन करने में अपना नुकसान दिखाई पड़ रहा है। यही कारण है कि भारत ने अमेरिकी प्रतिनिधियों से अनुरोध किया है कि वे इस बात का ध्यान रखे कि ईरान पर पाबंदी से भारत को नुकसान न हो। जबकि अमेरिका ईरान पर पाबंदी लगाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है।

आर्थिक और सामरिक हितों के इस लेन-देन के बीच भारत को अमेरिकी निकटता से रक्षा और संचार संबंधी तकनीक का अगर लाभ मिलेगा तो तेल-गैस जैसे प्राकृतिक संसाधनों को महंगी कीमत पर खरीदने को बाध्य होना पड़ेगा। रक्षा का

बड़ा दारोमदार संचार की नई तकनीक पर निर्भर है और अमेरिका वह भारत से साझा करने को तैयार है लेकिन, वह ईरान के साथ कोई नरमी बरतने को तैयार नहीं है। भारत इन दोनों के बीच संतुलन बिठाने का प्रयास करना होगा।

Date: 08-09-18

जातिवाद के दलदल में फंसी हमारी राजनीति

विभिन्न दल एक-दूसरे की टांग खींचने की बजाय अजा-जजा अत्याचार निवारण कानून पर सर्वसम्मति बनाएं

वेदप्रताप वैदिक

अजा जजा अत्याचार निवारण कानून को लेकर कभी अनुसूचित जाति-जनजाति द्वारा और कभी सवर्णों द्वारा बार-बार भारत बंद का जो नारा दिया जा रहा है, वह आखिर किस बात का सूचक है? वह प्रमुख राजनीतिक दलों के दिवालिएपन का सूचक है। जो दल शुद्ध जातिवादी राजनीति करते हैं और जिनका वर्चस्व सिर्फ उनके प्रांतों में ही है, मैं उनकी बात नहीं कर रहा हूं। जिन दलों का केंद्र में राज रहा है और जो खुद को संपूर्ण भारत का प्रतिनिधि कहते हैं, इस मुद्दे पर उनकी नीति क्या है?

जब 20 मार्च 2018 को सर्वोच्च न्यायालय ने 1989 में बने अजा-जजा अत्याचार निवारण कानून की गड़बड़ियों को सुधारा तो भाजपा-कांग्रेस का रवैया क्या था? कांग्रेस ने देश में भाजपा-विरोधी अभियान छेड़ दिया। उसने ऐसे आरोप लगाए जैसे अदालत का फैसला भाजपा सरकार के इशारे पर ही आया है। अजा-जजा वर्गों को भड़काया गया और हिंसा में 15 लोगों की जान चली गई। जहां तक सरकार का सवाल है, उसने याचिका लगाकर अदालत से प्रार्थना की थी कि वह 1989 के कानून को जरा भी ढीला न पड़ने दे। चूंकि कांग्रेस और अन्य विरोधी दलों के पास कोई मुद्दा नहीं था, उन्होंने इसे ही पकड़ लिया।

उन्होंने राजघाट पर अनशन की नौटंकी रच दी और भारत बंद का नारा दे दिया। भाजपा को लगा कि अनूसचित जातियों और जनजातियों का वोट बैंक कहीं खिसक न जाए, इसलिए उसने नेहले पर देहला मार दिया। उसने संसद में प्रस्ताव लाकर सर्वोच्च न्यायालय के संशोधनों को रद्द करवा दिया। किसी भी दल ने सर्वोच्च न्यायालय के संशोधनों का समर्थन नहीं किया। वे संशोधन क्या थे? सर्वोच्च न्यायालय ने 1989 के इस कानून में तीन मुख्य संशोधन सुझाए थे। अदालत ने यह तो माना कि अनुसूचितों पर अत्याचार आज भी जारी है। लेकिन उसने यह भी कहा कि अत्याचार को खत्म करने वाले कानून को खुद अत्याचारी नहीं बनना चाहिए। पिछले ढाई दशक का अनुभव है कि कानून की आड़ में लोगों ने झूठे मुकदमे चलाकर हजारों बेगुनाह लोगों को जेल के सींखचों के पीछे डलवा दिया।

अदालत ने इस पुराने कानून में पहला संशोधन यह किया कि किसी भी व्यक्ति को इसलिए तुरंत गिरफ्तार न किया जाए कि उसके विरुद्ध अजा वर्ग के किसी व्यक्ति या किसी आदिवासी ने थाने में कोई शिकायत लिखा दी है। मूल कानून में सुधार करते हुए अदालत ने फैसला दिया कि किसी भी नागरिक के खिलाफ कोई अनुसूचित व्यक्ति किसी भी

प्रकार की शिकायत करे तो उस नागरिक को गिरफ्तार करने के पहले पुलिस उसकी जांच करके वरिष्ठ जिला अधीक्षक को दे। उसके संतुष्ट होने पर ही गिरफ्तारी की जाए। दूसरा संशोधन यह था कि यदि ऐसा ही मामला किसी सरकारी कर्मचारी का हो तो जब तक उसे नियुक्त करने वाले उच्चाधिकारी की अनुमति न मिले, उसे गिरफ्तार न किया जाए। पहले उसकी जांच हो, यह जरूरी है। तीसरा संशोधन यह था कि इस तरह के आरोपी यदि जमानत या अग्रिम जमानत के लिए आवेदन करें तो उस पर विचार किया जाए।

ये संशोधन कड़ुए अनुभवों से ही पैदा हुए हैं। 2015-16 में अजा-जजा अत्याचार के 6 हजार मुकदमे फर्जी निकले और 2016-17 में इनकी संख्या 11 हजार तक पहुंच गई थी। अत्याचार का कोई मुकदमा फर्जी है या असली है, इसका फैसला होने में तो लंबा समय लगता है लेकिन, उतने समय तक निर्दोष लोगों को भी जेल काटनी पड़ती है, क्योंकि उन्हें जमानत भी प्रायः नहीं मिलती। यह कानून 1989 में बना था, जब देश में विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार थी। सभी दलों ने इस कानून का समर्थन किया था, क्योंकि सभी चाहते थे कि अजा-जजा वर्ग पर सदियों से हो रहे अत्याचारों पर प्रतिबंध लगे। तब संसद ने जो कड़े प्रावधान बनाए उनके पीछे यह भावना नहीं थी कि गैर-अजा-जजा वर्ग का दमन हो या उनको अनावश्यक तकलीफ पहुंचाई जाए।

लेकिन, अब जबकि देश के सर्वोच्च न्यायालय ने इस अन्यायकारी कानून में सुधार किया तो उसे सभी दलों का समर्थन क्यों नहीं मिला? इसीलिए कि देश के सभी नेता, सभी दल वोट और नोट के गुलाम हैं। उनके लिए देशहित नहीं, अपना दलीय हित सर्वोपरि है। हर प्रमुख दल यह बताने के लिए मरा जा रहा है कि देश के अनुसूचितों का सबसे बड़ा हितैषी वही है, क्योंकि उनकी आबादी 30-35 करोड़ है और वे प्रायः थोकबंद वोट डालते हैं। वास्तविकता यह है कि संसद ने 2018 में जो अजा-जजा अत्याचार निवारण कानून दोबारा पारित किया है, वह सवर्णों, पिछड़ों, मुसलमानों, ईसाइयों और अन्य गैर-अनुसूचित समुदायों के लिए तो तकलीफदेह है ही, उससे अजा-जजा वर्गों के करोड़ों लोगों को राहत मिलना तो दूर, उनका नुकसान ही ज्यादा होगा। देश के 75-80 प्रतिशत लोगों के मन में अगर यह बात घर कर गई कि यह कानून अन्यायकारी है तो आप ही सोचिए कि उसे अमल में लाना कितना कठिन होगा?

जिन नेताओं ने वोट के लालच में इसका समर्थन किया है, क्या वे भारत में सर्वत्र विराजमान होते हैं? पुलिस में, अदालत, प्रशासन, रेल, बस, स्कूल में, अस्पताल में- हर जगह गैर-अनुसूचितों की बहुसंख्या है। इनसे अनुसूचित लोग कैसे पार पाएंगे? इस दमनकारी कानून का एक सूक्ष्म असर यह भी होगा कि अजा-जजा विरोधी भावना भी फैलेगी। जो सांसद हाथ उठाकर इस कानून को पास करते हैं, वे भी मैदानी मौका पड़ने पर हाथ ऊंचे कर देंगे। जरूरी यह है कि हमारे अजा-जजा नेता और संगठन इस कानून पर पुनर्विचार करें। वे पहल करें और सर्वोच्च न्यायालय के संशोधनों को अधिक व्यावहारिक और तर्कसम्मत बनाने के लिए रचनात्मक सुझाव दें।

देश के प्रमुख राजनीतिक दल एक-दूसरे की टांग खींचने की बजाय इस मुद्दे पर एक सर्वसम्मति बनाएं। गैर-अनुसूचित जातियों के संगठन उत्तेजित होकर आजकल जो आंदोलन चला रहे हैं, वह हिंसक कदापि नहीं होना चाहिए। यह तो उन्होंने अच्छा किया कि वे भाजपा-कांग्रेस, दोनों के नेताओं को आड़े हाथों ले रहे हैं लेकिन, वे कृपया यह कभी नहीं भूलें कि अजा-जजा लोगों पर सदियों से हम अत्याचार करते रहे हैं। वे भी हमारे भाई हैं और उन्हें भी बराबरी का हक मिलना चाहिए। यह तभी होगा, जबकि भारत से जातिवाद का खात्मा होगा और भारत में डॉ. आंबेडकर और डॉ. लोहिया के सपनों का जातिविहीन समाज बनेगा लेकिन, अभी तो हमारी राजनीति जातिवाद के दलदल में बुरी तरह फंस गई है।

नईदुनिया

Date: 08-09-18

एससी-एसटी एक्ट पर रार

सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में यही सुनिश्चित किया था, लेकिन उसे दलित विरोधी करार देने के साथ उसके विरोध में भारत बंद का आयोजन भी किया गया।

संपादकीय

अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को उत्पीड़न से बचाने वाले कानून को पुराने स्वरूप में बहाल करने के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में दायर याचिका को लेकर मोदी सरकार असमंजस में पड़े तो हैरानी नहीं। सुप्रीम कोर्ट ने एससीएसटी एक्ट में हालिया संशोधन पर सरकार से छह सप्ताह के अंदर जवाब मांगा है। चूंकि यह संशोधन खुद सरकार की पहल पर हुआ है इसलिए उसके लिए उसका विरोध करना संभव नहीं होगा। इसी के साथ वह इसकी अनदेखी भी नहीं कर सकती कि तमाम सामाजिक संगठन यह दवाब बनाने में लगे हुए हैं कि इस अधिनियम के उसी स्वरूप को स्वीकार किया जाए जिसे सुप्रीम कोर्ट ने तय किया था। यह दबाव बढ़ाने के लिए ही अभी हाल में कुछ राज्यों में बंद बुलाया गया। पता नहीं इस बंद को किन राजनीतिक दलों ने हवा दी, लेकिन दिखा यही कि यह एक राजनीति प्रेरित आयोजन था।

बसपा प्रमुख मायावती ने इस बंद के लिए जिस तरह भाजपा को जिम्मेदार ठहरा दिया उससे यही स्पष्ट होता है कि किस तरह एक संवेदनशील मसले पर संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थ साधे जा रहे हैं। क्या यह वही मायावती नहीं जिन्होंने मुख्यमंत्री रहते समय एससी-एसटी एक्ट में करीब-करीब वैसे ही बदलाव किए थे जैसे अभी हाल में सुप्रीम कोर्ट ने किए? बात केवल बसपा की ही नहीं, अन्य अनेक दलों की भी है। आगामी आम चुनाव और कुछ राज्यों के विधानसभा चुनावों को देखते हुए विभिन्न दल एससी-एसटी एक्ट के बहाने अपना-अपना वोट बैंक बनाने की कोशिश कर रहे हैं। यह चिंताजनक है कि वोट बैंक के आगे उन्हें सामाजिक सद्भाव की कहीं कोई चिंता नहीं।

यह ठीक नहीं कि एससी-एसटी एक्ट के मामले जब नीर-क्षीर ढंग से विचार करने की जरूरत है तब ऐसा करने से बचा जा रहा है। शायद इसी कारण सुप्रीम कोर्ट के फैसले को दरकिनार करते हुए इस एक्ट के पुराने स्वरूप को बहाल करने का फैसला किया गया। सरकार को ऐसा इसलिए करना पड़ा, क्योंकि खुद को दलित हितैषी दिखाने के फेर में राजनीतिक दलों ने एक ऐसा माहौल बना दिया जैसे सुप्रीम कोर्ट ने एससी-एसटी एक्ट को खारिज ही कर दिया हो। न्याय का तकाजा तो यह कहता है कि किसी भी मामले में बिना जांच गिरफ्तारी नहीं होनी चाहिए।

सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में यही सुनिश्चित किया था, लेकिन उसे दलित विरोधी करार देने के साथ उसके विरोध में भारत बंद का आयोजन भी किया गया। इस दौरान अनावश्यक उग्रता भी दिखाई गई। क्या संवेदनशील मसले रार ठानने से सुलझते हैं? कहना कठिन है कि पुराने स्वरूप वाले एससी-एसटी एक्ट पर सुनवाई करने जा रहे सुप्रीम कोर्ट के समक्ष

सरकार क्या दलील पेश करेगी, लेकिन अगर इस नाजुक मसले पर संयम का परिचय नहीं दिया गया तो सामाजिक समरसता के लिए खतरा पैदा हो सकता है। ऐसा होना किसी के भी हित नहीं। बेहतर होगा कि सभी संगठन चाहे वे राजनीतिक हों या सामाजिक, यह देखें कि दलित उत्पीड़न की घटनाओं पर लगाम कैसे लगे? इसी के साथ सुप्रीम कोर्ट भी यह देखे कि एससी-एसटी एक्ट का ऐसा स्वरूप कैसे बने कि वह प्रभावी भी रहे और उसका दुरुपयोग भी न हो।

जनसत्ता

Date: 07-09-18

आधार की अड़चन

संपादकीय

जब से सरकार ने ज्यादातर कामों के लिए आधार नंबर की अनिवार्यता पर जोर देना शुरू **किया** है, तब से ऐसी जगहों पर भी लोगों को मुश्किलें उठानी पड़ रही **हैं**, जहां अभी तक इसकी बाध्यता तय नहीं की गई है। हालत यह है कि अगर अभिभावक स्कूलों में अपने बच्चे का **दाखिला** कराने जाते हैं तो बिना आधार नंबर मुहैया कराए यह काम नहीं हो पाता है। दाखिले के लिए आधार नंबर की **अनिवार्यता** को स्कूलों ने अपनी ओर से लागू कर दिया। यूआइडीएआइ यानी भारतीय विशिष्ट पहचान प्राधिकरण ने बुधवार को स्कूलों के लिए जारी अपने ताजा निर्देश में कहा है कि आधार कार्ड न होने की वजह से किसी बच्चे को दाखिला देने से इनकार न करें। यह अवैध है और फिलहाल कानून के तहत ऐसा करने की इजाजत नहीं है। बल्कि यह सुनिश्चित **किया** जाना चाहिए कि आधार कार्ड की वजह से **किसी** भी बच्चे को लाभ और उसके अधिकार से वंचित नहीं किया जाए।

सवाल है कि स्कूलों ने किस वजह से एक ऐसे नियम को अनिवार्य बना दिया था, जिसके लिए सरकार या संबंधित महकमे की ओर से कोई बाध्यता तय नहीं की गई थी! सच यह है कि न केवल दाखिले के **लिए**, बल्कि स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों को किसी न किसी बहाने **अनिवार्य** रूप से अपना आधार नंबर मुहैया कराने की **प्रक्रिया** में डाल दिया गया है। यह किसी से छिपा नहीं है कि फिलहाल कानूनी तौर पर आधार का दायरा चाहे जो तय **किया** गया हो, लेकिन व्यवहार में बैंकों और स्कूलों से लेकर बहुत सारे ऐसे कामों में भी लोगों को आधार के बिना सुविधाएं मुहैया कराने से इनकार कर दिया जा रहा है, जहां अभी तक इसकी **अनिवार्यता** लागू नहीं हुई है। जबकि इस संबंध में **सुप्रीम** कोर्ट का अंतिम फैसला आना अभी बाकी है कि आधार की वैधता **क्या** है या इसकी अनिवार्यता और उपयोग की सीमा क्या होनी चाहिए !

अगर किन्हीं स्थितियों में सुप्रीम कोर्ट अपने अंतिम निर्णय में इसकी अनिवार्यता के पक्ष में फैसला दे भी देता है, तो चूंकि इसके दायरे में देश के सभी वैध **नागरिक** आएंगे, इसलिए आधार एक सतत चलने **वाली** प्रक्रिया होगी। फिर इस कार्ड का बनना एक प्रक्रिया से होकर गुजरता है और संभव है कि किसी व्यक्ति को कोई ऐसी जरूरत अचानक सामने आ जाए, जिसमें आधार की अनिवार्यता लागू हो। ऐसी स्थिति में प्राधिकरण या संबंधित संस्थान की ओर से क्या व्यवस्था की जाएगी? अभी जिन योजनाओं और **सरकारी** कल्याणकारी कार्यक्रमों का लाभ उठाने के लिए आधार को अनिवार्य घोषित कर दिया गया है, उसमें भी **तकनीकी** वजहों से बायोमेट्रिक पहचान से संबंधित **मुश्किलें** खड़ी हो रही हैं। ऐसी खबरें भी आती रहती हैं कि बायोमेट्रिक **मिलान** में दिक्कत होने की वजह से किसी व्यक्ति को योजना का लाभ नहीं

मिल सका। इसके अलावा, आधार नंबर के सार्वजनिक होने और उसके जोखिम को लेकर अभी बहुत सारे सवालों का निराकरण नहीं हो पाया है और डाटा चोरी के खतरे के मामले या आधार नंबर के दुरुपयोग की आशंका बड़ी चिंता की वजहें बनी हुई हैं। जरूरत इस बात की है कि आधार के समूचे मामले पर जब तक सुप्रीम कोर्ट का अंतिम फैसला नहीं आ जाता है, तब तक लोगों के सामने इसकी बाध्यता तय न की जाए।

Date: 07-09-18

निजता का सम्मान

संपादकीय

सर्वोच्च न्यायालय ने आखिर समलैंगिकों की निजता का सम्मान करते हुए धारा तीन सौ सतहत्तर को समाप्त कर दिया है। पांच न्यायाधीशों के पीठ ने अपने फैसले में कहा कि यौन प्राथमिकता जैविक और प्राकृतिक है। अंतरंगता और निजता किसी का निजी चुनाव है, इसमें राज्य को दखल नहीं देना चाहिए। इस मामले में किसी भी तरह का भेदभाव मौलिक अधिकारों का हनन है। धारा तीन सौ सतहत्तर इन अधिकारों का हनन करती थी। इस धारा को समाप्त करने की मांग लंबे समय से उठाई जा रही थी। इसमें कई स्वयंसेवी संगठन और समलैंगिक लोग शामिल थे। तर्क दिया गया था कि ब्रिटिश शासन के दौरान बने इस कानून का अब कोई औचित्य नहीं है। दुनिया के बहुत सारे देश समलैंगिकता को मान्यता दे चुके हैं। पर हमारे यहां अब भी इस कानून के तहत दो समान लिंगी लोगों के परस्पर यौन संबंध बनाने, विवाह करने आदि पर चौदह साल से लेकर आजीवन कारावास तक की सजा का प्रावधान लागू था। इस कानून की वजह से समाज का नजरिया भी ऐसे लोगों के प्रति नहीं बदल पा रहा था। हालांकि सर्वोच्च न्यायालय के ताजा फैसले पर भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनों को एतराज है। उनका तर्क है कि यह भारतीय समाज के अनुकूल नहीं है। इसलिए समाज के नजरिए में जल्दी बदलाव की बेशक संभावना क्षीण नजर आती हो, पर इससे समाज में समलैंगिकों की प्रताड़ना पर रोक अवश्य लग जाएगी।

कानून व्यक्ति, समाज और देश के हितों को ध्यान में रखते हुए बनाए जाते हैं। इसलिए बदली परिस्थितियों के अनुसार उनमें संशोधन होते रहते हैं। हालांकि इन बदलावों को लेकर समाज और देश के सभी लोग सहमत और संतुष्ट हों, जरूरी नहीं। इसलिए अक्सर कानूनी बदलावों को लेकर विरोध के स्वर भी उभरते रहते हैं। पर जिस कानून से मानवीय अधिकारों का हनन होता हो, उसे सिर्फ समाज के कुछ लोगों के नजरिए के आधार पर बनाए रखना उचित नहीं होता। समलैंगिकता को उचित ठहराने से पहले ट्रांसजेंडर के मामले में सर्वोच्च न्यायालय पहले ही फैसला दे चुका है। समाज में ट्रांसजेंडरों को लेकर भी अच्छा दृष्टिकोण नहीं था। उन्हें कानूनी रूप से बराबरी का हक भी नहीं प्राप्त था। वे उपहास के पात्र थे। उसी श्रेणी में गिने जाने वाले समलैंगिकों को भी समाज में हिकारत की नजर से देखा जाता है। उन्हें कानूनी स्वीकार्यता मिलने से एलजीबीटी कहे जाने वाले लोगों को अब सामान्य नागरिकों को प्राप्त सभी अधिकार मिल सकेंगे।

अपने फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने माना है कि समलैंगिकता मानसिक विकृति नहीं है। यह अपनी इच्छा से जीवन जीने का तरीका चुनना है। यों सामाजिक व्यवस्था में एक ही लिंग के दो लोग आपस में विवाह नहीं कर सकते, यौन संबंध नहीं बना सकते। पर इस आधार पर लोगों को इस व्यवस्था को स्वीकार करने को मजबूर नहीं किया जा सकता।

अगर दो लोग स्वेच्छा से साथ रहना चाहते हैं, तो उन्हें सिर्फ इस सामाजिक मान्यता के आधार पर नहीं रोका जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय ने **समलैंगिकता** को स्वीकृति देकर एक तरह से समाज के **संकीर्ण** नजरिए को बदलने की दिशा में भी सराहनीय कदम बढ़ाया है। जब समलैंगिक लोग सहजता से समाज में रह **सकेंगे**, तो समाज का दृष्टिकोण भी उनके प्रति बदलेगा। अभी तक उन्हें जैसी यातना और हिकारत झेलनी पड़ती थी, हर समय कानून का भय सताता था, वह दूर होगा, तो सामाजिक समरसता **में** उनका योगदान भी बढ़ेगा।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 07-09-18

The Long Road to Equality

SC's Section 377 verdict brings a belated but soaring moment. It's a victory for individual and minority rights, underlines primacy of Constitution as a transformative document

Editorial

Section 377 IPC is irrational, indefensible and arbitrary," the Supreme Court ruled on Thursday while striking down a law that had oppressed India's LGBT community for more than 150 years. What consenting adults do in their bedrooms is no longer the business of the state. "The sexual orientation of each individual in the society must be protected on an even platform, for the right to privacy and the protection of sexual orientation lie at the core of the fundamental rights guaranteed by Articles 14, 15 and 21 of the Constitution," the five-judge bench ruled. That, in itself, makes the verdict historic. But the judgment must also be celebrated for tying the issue of sexual freedom with questions of minority rights, the protection of which is essential in any system that calls itself a constitutional democracy. "Constitutional rights cannot be held hostage to majoritarian consensus and popular morality," said the apex court.

While striking down Section 377, the five-judge bench delineated the law's discriminatory character. "Section 377 IPC assumes the characteristic of unreasonableness, for it becomes a weapon in the hands of the majority to seclude, exploit and harass the LGBT community. It shrouds the lives of the LGBT community in criminality and constant fear mars their joy of life. They constantly face social prejudice, disdain and are subjected to the shame of being their very natural selves."

The judgment then tries to locate homosexuality "as a matter of identity". "Attitudes and mentality have to change to accept the distinct identity of individuals and respect them for who they are rather than compelling them to become who they are not," the five-judge bench notes. It quotes scientific research to show that the behaviour is "as much ingrained, inherent and innate as heterosexuality". In doing so, the bench makes a strong case for the rights of the individual. "The LGBT community possess the same human, fundamental and constitutional rights as other citizens do since these rights inhere in individuals as natural and human rights. Respect for individual choice is the very essence of liberty under law".

Thursday's verdict is in line with the apex court's recent inclination to subject some of its past verdicts to scrutiny — this was most noticeable in last year's ruling on the privacy issue. In fact, a major portion of that landmark verdict was devoted to Section 377. The court had weighed its 2013 ruling that resuscitated Section 377 against the Delhi High Court's verdict of 2009 that decriminalised homosexuality and had come out in support of the latter. "Discrimination against an individual on the basis of sexual orientation is deeply offensive to the dignity and self-worth of the individual," it said.

In a fundamental sense, the verdict that reads down the colonial-era law is an affirmation of the principles that underlay the privacy verdict. "The mere fact that the percentage of population whose fundamental right to privacy is being abridged by the existence of Section 377 in its present form is low does not impose a limitation upon this Court from protecting the fundamental rights of those who are so affected by this Section," the court has said.

Its words, "The constitutional framers could have never intended that the protection of fundamental rights was only for the majority population," while intended as a critique of its 2013 judgment, have resonance beyond this case. In fact, the court notes that the "struggles of citizens belonging to sexual minorities is the struggle against various forms of social subordination. This includes various forms of transgression such as inter-caste and inter-community relationships, which are sought to be curbed by society. What links LGBT individuals to couples who love across caste and community lines is the fact that both are exercising their right to love at enormous personal risk and in the process disrupting existing lines of social authority".

The battle against Section 377 has politicised generations of activists, influenced popular culture, sparked public discussion and debates — within the LGBT community as well — and raised awareness around sexuality and gender-related issues. Thursday's verdict acknowledges this socio-political context: "The challenge to Section 377 has to be understood from the perspective of a rights discourse. While doing so, it becomes necessary to understand the constitutional source from which the claim emerges. When a right is claimed to be constitutionally protected, it is but necessary for the court to analyse the basis of that assertion".

The richness of the verdict lies in the way the five judges link their understanding of the discriminatory nature of Section 377 with the role of the Constitution as "a transformative document". "Our Constitution is a living and organic document capable of expansion with the changing needs and demands of the society". The verdict calls upon courts to "act as sentinel on qui vive for guarding the rights of all individuals". CJI Dipak Misra, introduced the verdict with a call to "vanish, prejudice and embrace inclusion and ensure equal rights". The judiciary has, time and again, proved it is up to the task. In the case of Section 377, it has been supported enthusiastically by civil society, more reluctantly by the political class, to deliver a much belated but historic reform.

THE HINDU

Date: 07-09-18

The Right to Love

The Supreme Court ruling on Section 377 furthers the frontiers of personal freedom

EDITORIAL

The stirring message from the Supreme Court's landmark judgment decriminalising gay sex is that social morality cannot trump constitutional morality. It is a reaffirmation of the right to love. In a 5-0 verdict, a Constitution Bench has corrected the flagrant judicial error committed by a two-member Bench in Suresh Kumar Koushal (2013), in overturning a reasoned judgment of the Delhi High Court reading down Section 377 of the IPC. The 2013 decision meant that the LGBTQ community's belatedly recognised right to equal protection of the law was withdrawn on specious grounds: that there was nothing wrong in the law treating people having sex "against the order of nature" differently from those who abide by "nature", and that it was up to Parliament to act if it wanted to change the law against unnatural sex. The court has overruled Koushal and upheld homosexuals' right to have intimate relations with people of their choice, their inherent right to privacy and dignity and the freedom to live without fear. The outcome was not unexpected. When the courts considered Section 377 earlier, the litigation was initiated by voluntary organisations. When those affected by the 2013 verdict approached the Supreme Court, it was referred to a larger Bench to reconsider Koushal.

In the intervening years, two landmark judgments took forward the law on sexual orientation and privacy and formed the jurisprudential basis for the latest judgment. In National Legal Services Authority (2014), a case concerning the rights of transgender people, the court ruled that there could be no discrimination on the basis of sexual orientation and gender identity. In Justice K.S. Puttaswamy (2017), or the 'privacy case', a nine-judge Bench ruled that sexual orientation is a facet of privacy, and constitutionally protected. Chief Justice of India Dipak Misra's opinion lays emphasis on transformative constitutionalism, that is, treating the Constitution as a dynamic document that progressively realises various rights. In particular, he invokes the doctrine of non-retrogression, which means that once a right is recognised, it cannot be reversed. Taken together, the four opinions have furthered the frontiers of personal freedom and liberated the idea of individual rights from the pressure of public opinion. Constitutional morality trumps any imposition of a particular view of social morality, says Justice R.H. Nariman, while Justice D.Y. Chandrachud underscores the "unbridgeable divide" between the moral values on which Section 377 is based and the values of the Constitution. Justice Indu Malhotra strikes a poignant note when she says history owes an apology to the LGBTQ community for the delay in providing the redress. The dilution of Section 377 marks a welcome departure from centuries of heteronormative thinking. This is a verdict that will, to borrow a phrase from Justice Chandrachud, help sexual minorities 'confront the closet' and realise their rights.